अर्थ पञ्चमपक्ष में दे कर "न पञ्चमः, जग्मतुरित्याद्यनुपपत्तेः । लोपप्रतियोग्य-पेक्षयाऽतुसादेरव्यवहितपरत्वाऽभावात्" इस प्रकार खण्डन किया गया है । श्रीहरदत्त-मिश्र ने अपनी पदमञ्जरी में भी इस अर्थ को पञ्चमपक्ष में रख कर उपर्युक्त हेतुओं से खण्डन किया है । बड़े आश्चर्य की बात है कि लघुकौमुदी के किसी हिन्दी वा संस्कृत व्याख्याकार को वरदराज की यह विशेषता आज तक नहीं सूझी ।

लिँट् प्र० पु० के बहुवचन में भी पूर्ववत् सिद्धि हो कर 'गोपायाञ्चक्रुः, गोपायांचक्रुः' दो रूप सिद्ध होते हैं ।

लिँट् मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश होकर 'गोपायाम्+कृ+थ' इस अवस्था में 'लिँट् च' (४००) के अनुसार 'थ' के आर्धधातुक होने के कारण 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) सूत्र से इट् का आगम प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम् (४७५) एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ।७।२।१०।।

उपदेशे यो धातुरेकाज् अनुदात्तश्च तत आर्धधातुकस्येड् न ।।

अर्थः—उपदेश अवस्था में जो धातु एक अच् वाली तथा साथ ही अनुदात्त भी हो तो उस धातु से परे आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता ।

व्याख्या——एकाचः ।५।१। उपदेशे ।७।१। अनुदात्तात् ।५।१। धातोः ।५।१। ('ऋत इद्धातोः' से)। न इत्यव्ययपदम् । इट् ।१।१। ('नेड् वशि कृति' से) । एकोऽच् यस्य यस्मिन् वाऽसौ एकाच्, तस्माद्=एकाचः । बहुव्रीहि० । अनुदात्तोऽस्त्यस्येति अनुदात्तो धातुः, अर्शआद्यजन्तम् । अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में (एकाचः) एक अच् वाली (अनुदात्तात्) अनुदात्त (धातोः) धातु से परे (इट्) इट् (न) नहीं होता । इट् का आगम 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) के अनुसार वलादि आर्धधातुक को हुआ करता है उस का प्रकृतसूत्र में निषेध किया जा रहा है । जो धातु उपदेश में एकाच् हो और साथ ही अनुदात्त भी, उस धातु से परे वलादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता । उदाहरण यथा—

कृ+तुम् (तुमुन्), कृ+तव्य (तव्यत्) । यहां पर कृ धातु उपदेश में एकाच् है[1] और अनुदात्त भी, अतः इस से परे वलादि आर्धधातुक तुम् और तव्य प्रत्ययों को इट् का आगम नहीं होता । गुण हो कर 'कर्तुम्, कर्तव्यम्' सिद्ध हो जाते हैं ।

---

१. ध्यान रहे कि अनुबन्धों से मुक्त कर के धातुओं का एकाच्त्व या अनेकाच्त्व देखना चाहिये यथा—'डुकृञ् करणे' (तनादि० उभय०) यहां अनुबन्धों को छोड़ कर 'कृ' ही अवशिष्ट रहता है अतः यह धातु एकाच् समझनी चाहिये । 'ऊर्णुञ् आच्छादने' (अदा० उभय०) धातु अनुबन्ध से मुक्त हो कर 'ऊर्णु' अवशिष्ट रहता है अतः इसे अनेकाच् समझना चाहिये ।

सावधान रहिये कि 'उपदेशे' पद का 'एकाचः' और 'अनुदात्तात्' दोनों से सम्बन्ध है। मणिमध्यन्याय या देहलीदीपकन्याय के अनुसार जैसे मध्य में रखा हुआ मणि या दीपक दोनों ओर प्रकाश देता है वैसे यहां भी 'उपदेशे' पद की स्थिति समझनी चाहिये। यदि कोई धातु उपदेश में एकाच् हो पर अनुदात्त न हो तो यह निषेध प्रवृत्त न होगा; इसी प्रकार यदि उपदेश में कोई धातु अनुदात्त तो हो पर एकाच् न हो तो भी यह निषेध प्रवृत्त न होगा। इस निषेध की प्रवृत्ति के लिये धातु का उपदेश में एकाच् होना और साथ ही उपदेश में अनुदात्त होना दोनों आवश्यक हैं[1]।

अनुदात्त और अनुदात्तेत् धातुओं को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। अनुदात्तेत् धातुओं में अनुदात्त अनुबन्ध इत् होता है इस का फल आत्मनेपद का विधान है (देखो सूत्र ३७८) पर अनुदात्त होने से धातु से परे आर्धधातुक को इडागम का निषेध हुआ करता है। यह आवश्यक नहीं कि जो धातु अनुदात्तेत् हो वह अनुदात्त भी हो। यथा 'एधँ वृद्धौ' (भ्वा० आत्मने०) धातु अनुदात्तेत् तो है पर अनुदात्त नहीं। इसी प्रकार शक् आदियों में कई धातुएं अनुदात्त होती हुई भी अनुदात्तेत् नहीं।

पाणिनिमुनिप्रणीत धातुपाठ ही धातुओं का उपदेशस्थान है। इसमें प्रत्येक धातु के विषय में पूरा पूरा विवरण दिया गया है। पर जिन को धातुपाठ कण्ठस्थ नहीं उन के सुखबोध के लिये यहां लघुकौमुदी में अनुदात्त धातुओं की संग्रहतालिका दी जा रही है। छात्रों के लिये यह तालिका अतीव उपयोगी है। हमारा विद्यार्थियों से सानुरोध निवेदन है कि यदि वे संस्कृतव्याकरणशास्त्र में निपुणता प्राप्त करना चाहते हैं तो यह तालिका अवश्य कण्ठस्थ कर लें।

धातु दो प्रकार के होते हैं अजन्त और हलन्त। अजन्त एकाच् धातुओं में अनुदात्त धातुओं की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—

[लघु०] ऊदॄदन्तैर्-यौति-रु-क्ष्णु-शीङ्-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः।
वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः॥

अर्थः—ऊदन्त, ॠदन्त, यु, रु, क्ष्णु, शीङ्, स्नु, नु, क्षु, श्वि, डीङ्, श्रि, वृङ्

---

१. यदि 'उपदेशे' पद का सम्बन्ध केवल 'एकाच.' से करते हैं, 'अनुदात्तात्' से नहीं तो 'कृ+तुम्' यहां कृ धातु उपदेश में एकाच् तो है पर अब 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९१) सूत्र से उदात्त हो गई है अनुदात्त नहीं रही अतः इस में इण्निषेध न हो सकेगा। इसी प्रकार 'उपदेशे' पद का सम्बन्ध यदि केवल 'अनुदात्तात्' से करते हैं, 'एकाचः' से नहीं तो 'चकृषे' यहां धातु के उपदेश में अनुदात्त होने पर भी अब द्वित्व के कारण अनेकाच् हो जाने से इण्निषेध सम्भव नहीं होगा। अतः 'उपदेशे' का सम्बन्ध 'एकाचः' और अनुदात्तात्' दोनों से करना उचित है।

और वृञ्—इन धातुओं को छोड़कर उपदेश में एक अच् वाले समस्त अजन्त धातु निहत अर्थात् अनुदात्त समझने चाहियें ।

व्याख्या—इस श्लोक में 'विना' के योग में तीन स्थानों पर तृतीयाविभक्ति लगी हुई है—ऊदॄदन्तैः, यौति—श्रिभिः, वृङ्वृञ्भ्याम् । ऊत् च ॠत् च ऊदॄतौ, ऊदॄतौ अन्तौ—अन्त्यावयवौ येषान्ते ऊदॄदन्ताः, तैः=ऊदॄदन्तैः । ऊकारान्तैर् ॠकारान्तैश्चेत्यर्थः ।

(१) ऊदन्त यथा—भू सत्तायाम् (होना, भ्वा० परस्मै०), लूञ् छेदने (काटना, क्र्या० उभय०), पूञ् पवने (पवित्र करना, क्र्या० उभय०) इत्यादि ।

(२) ॠदन्त यथा—कॄ विक्षेपे (बिखेरना, तुदा० परस्मै०), पॄ पालनपूरणयोः (पालना या भरना, जुहो० परस्मै०), गॄ निगरणे (निगलना, तुदा० परस्मै०) इत्यादि ।

(३) यौति—यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः (मिलाना या अलग करना, अदा० परस्मै०) ।

(४) रु शब्दे (शब्द करना, अदा० परस्मै०), रुङ् गतिरेषणयोः (गमन या हिंसा करना, भ्वा० आत्मने०) । 'रु' से रु और रुङ् दोनों का ग्रहण होता है (देखो तत्त्वबोधिनी) । कुछ वैयाकरण लुग्विकरणीय धातुओं के संग के कारण केवल अदादिगणीय 'रु शब्दे' का ही ग्रहण मानते हैं, उन के अनुसार रुङ् धातु अनुदात्त होगी ।

(५) क्ष्णु तेजने (तीक्ष्ण करना, अदा० परस्मै०) ।

(६) शीङ् स्वप्ने (सोना, अदा० आत्मने०) ।

(७) स्नु—ष्णु प्रस्रवणे (चूना वा टपकना, अदा० परस्मै०) ।

(८) नु—णु स्तुतौ (स्तुति करना, अदा० परस्मै०) ।

(९) क्षु—टुक्षु शब्दे (शब्द करना, अदा० परस्मै०) ।

(१०) श्वि—टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः (गमन, बढ़ना, भ्वा० परस्मै०) ।

(११) डीङ् विहायसा गतौ (उड़ना, भ्वा० दिवा० आत्मने०) ।

(१२) श्रिञ् सेवायाम् (सेवा करना, आश्रय करना, भ्वा० उभय०) ।

(१३) वृङ् सम्भक्तौ (सेवा करना, क्र्या० आत्मने०) ।

(१४) वृञ् वरणे (स्वीकार करना, स्वा० उभय०), वृञ् आवरणे (ढांपना, चुरा० उभय० आधृषीय) ।

अजन्तों में उपर्युक्त चौदह एकाच् धातु उदात्त हैं[1] । इन को छोड़ कर अन्य

---

१. अतः इन में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से इण्निषेध न होगा । यथा—ऊदन्तों में (भू) भविता, भविष्यति; (लू) लविता, लविष्यति; ॠदन्तों में (कॄ) करिता, करिष्यति; यु—यविता, यविष्यति; रु—रविता, रविष्यति; क्ष्णु—क्ष्णविता,

सभी एकाच् अजन्त धातु अनुदात्त होती हैं[1] । यथा—या प्रापणे (जाना, अदा० परस्मै०), याता, यास्यति, यातुम्, यातव्यम् आदि । डुकृञ् (कृ) करणे (करना, तना० उभय०) कर्ता, कर्तुम्, कर्तव्यम्, कृत्वा आदि ।

अजन्तों मे उदात्त धातु थोड़ी और अनुदात्त धातु बहुत हैं अतः उदात्त धातुओं को गिना कर शेष धातुओं को अनुदात्त कह दिया गया है । परन्तु हलन्तों में उदात्त धातु बहुत और अनुदात्त धातु थोड़ी है अतः सीधा अनुदात्तों का ही परिगणन करते हैं—

[लघु०] कान्तेषु शक्लेकः[2]। चान्तेषु पच्-मुच्-रिच्-वच्-विच्-सिचः षट् । छान्तेषु प्रच्छ्येकः। जान्तेषु त्यज्-निजिर्-भज्-भञ्ज्-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज्-यज्-युज्-रुज्-रञ्ज्-विजिर्-स्वञ्ज्-सञ्ज्-सृजः पञ्चदश । दान्तेषु अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद्-नुद्-पद्य-भिद्-विद्य-विनद्-विन्द्-शद्-सद्-स्विद्य-स्कन्द्-हदः षोडश । धान्तेषु क्रुध्-क्षुध्-बुध्य-बन्ध्-युध्-रुध्-राध्-व्यध्-शुध्-साध्-सिध्या एकादश । नान्तेषु मन्यहनौ द्वौ । पान्तेषु आप्-क्षिप्-छुप्[3]-तप्-तिप्-तृप्य-दृप्य-लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपस्त्रयोदश । भान्तेषु यभ्-रभ्-लभस्त्रयः । मान्तेषु गम्-नम्-यम्-रमश्चत्वारः । शान्तेषु क्रुश्-दंश्-दिश्-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-विश्-स्पृशो दश । षान्तेषु कृष्-त्विष्-तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्या एकादश । सान्तेषु घस्-वसती द्वौ। हान्तेषु दह्-दिह्-दुह्-नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहोऽष्टौ ।

अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम् (१०३) ॥

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थकार ने ककाराद्यन्त क्रम का आश्रय लिया है ।

ककारान्त धातुओं में एक **शक्लृँ शक्तौ** (सकना, समर्थ होना, स्वा० परस्मै०) धातु ही अनुदात्त हैं । 'शक्लृँ' में लृकार जोड़ने का प्रयोजन यह है कि इस का 'शकिँ

क्षणविष्यति; शीङ्—शयिता, शयिष्यते; स्नु—स्नविता, स्नविष्यति; नु—नविता, नविष्यति; क्षु—क्षविता, क्षविष्यति; श्वि—श्वयिता, श्वयिष्यति; डीङ्—डयिता, डयिष्यते; श्रिञ्—श्रयिता, श्रयिष्यति; वृङ्—वरिता, वरिष्यति; वृञ्—वरिता, वरिष्यति आदि । इन में सर्वत्र 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) द्वारा इट् हो जाता है ।

१. यह परिगणन एकाच् धातुओं के विषय में है अतः जागृ, दरिद्रा आदि अनेकाच् धातुओं को यह लक्ष्य नहीं बनाता ।

२. शक्लृ+एक इतिच्छेदः । यण् । अत्र अविभक्तिको निर्देशः । एवम् 'प्रच्छ्येकः' इत्यत्राप्यूह्यम् ।

३ प्रायः लघुकौमुदी के संस्करणों में 'छुप्' के स्थान पर 'क्षुप्' पाठ मुद्रित मिलता है पर वह सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि पाणिनीयव्याकरण में 'क्षुप्' धातु कहीं उपलब्ध नहीं ।

शङ्कायाम्' (भ्वा० आत्मने०) तथा 'शक मर्षणे' (दिवा० उभय०) से भेद हो सके। वे दोनों धातु उदात्त हैं अतः उन में इट् का आगम हो जायेगा। परन्तु महाभाष्य के अनुसार दैवादिक शक् धातु भी अनुदात्त है (देखें लघुशब्देन्दुशेखर यही स्थल)।

चकारान्त धातुओं में छः धातु अनुदात्त हैं। (१) पच्—डुपचँष् पाके (पकाना, भ्वा० उभय०)[1]। (२) मुच्—मुच्लृँ मोक्षणे (छोड़ना, तुदा० उभय०)। (३) रिच्—रिचिर् विरेचने (दस्त लगाना, खाली करना, रुधा० उभय०) तथा रिच वियोजन-सम्पर्चनयोः (अलग करना, मिलाना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (४) वच्—वच परिभाषणे (बोलना, अदा० परस्मै०) तथा 'ब्रुवो वचिः' (५९६) सूत्र द्वारा ब्रू के स्थान पर हुआ वच् आदेश। (५) विच्—विचिर् पृथग्भावे (अलग करना, रुधा० उभय०)। (६) सिच्—षिचँ क्षरणे (सींचना, तुदा० उभय०)।

छकारान्तों में केवल एक धातु प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (पूछना, तुदा० परस्मै०) अनुदात्त है।

जकारान्तों में पन्द्रह धातु अनुदात्त हैं। (१) त्यज हानौ (छोड़ना, भ्वा० परस्मै०)। (२) निजिर्—णिजिर् शौचपोषणयोः (शुद्ध करना या पोषण करना, जुहो० उभय०)। (३) भजँ सेवायाम् (सेवा करना, भ्वा० उभय०)। (४) भञ्ज्—भञ्जोँ आमर्दने (तोड़ना, रुधा० परस्मै०)। (५) भुज्—भुज पालनाऽभ्यवहारयोः (पालन करना खाना, रुधा० परस्मै०) तथा भुजोँ कौटिल्ये (टेढ़ा करना, तुदा० परस्मै०)। (६) भ्रस्जँ पाके (पकाना-भूनना, तुदा० उभय०)। (७) मस्ज्—टुमस्जोँ शुद्धौ (शुद्ध होना, डुबकी लगाना, तुदा० परस्मै०)। (८) यजँ देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु (यज्ञ करना आदि, भ्वा० उभय०)। (९) युज्—युजिर् योगे (जोड़ना, रुधा० उभय०), युजँ समाधौ (समाहित होना, दिवा० आत्मने०) तथा युज संयमने (बान्धना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (१०) रुज्—रुजोँ भङ्गे (तोड़ना तुदा० परस्मै०)। (११) रञ्जँ रागे (रंगना, अनुरक्त होना, भ्वा० उभय०, दिवा० उभय०)। (१२) विजिर् पृथग्भावे (अलग होना, जुहो० उभय०)। सानुबन्ध निर्देश के कारण 'ओँविजीँ भयचलनयोः' धातु का ग्रहण नहीं होता। (१३) स्वञ्ज्—ष्वञ्जँ परिष्वङ्गे (आलिङ्गन करना, भ्वा० आत्मने०)। (१४) सञ्ज्—षञ्ज सङ्गे (चिपटना, भ्वा० परस्मै०)। (१५) सृज विसर्गे (छोड़ना, पैदा करना, दिवा० आत्मने०, तुदा० परस्मै०)।

दकारान्तों में सोलह धातु अनुदात्त हैं। (१) अद भक्षणे (खाना, अदा० परस्मै०)। (२) क्षुद्—क्षुदिर् सम्पेषणे (कूटना-पीसना, रुधा० उभय०)। (३) खिद्—खिदँ दैन्ये (खिन्न होना, दिवा० आत्मने०, रुधा० आत्मने०) तथा खिद

---

१. प्रसिद्ध होने से यहां 'डुपचँष् पाके' का ही ग्रहण होता है।

परिघाते (मारना, तुदा० परस्मै०)। (४) छिद्—छिदिर् द्वैधीकरणे (काटना, रुधा० उभय०)। (५) तुद् व्यथने (पीड़ा देना, तुदा० उभय०)। (६) नुद्—णुद प्रेरणे (प्रेरित करना, तुदा० उभय०, परस्मै०)। (७) पद्य[1]—पदँ गतौ (जाना या प्राप्त करना, दिवा० आत्मने०)। (८) भिद्—भिदिर् विदारणे (भेदन करना, रुधा० उभय०)। (९) विद्य—श्यन्विकरण वाली विद् धातु—विदँ सत्तायाम् (होना, दिवा० आत्मने०)। (१०) विनद्—श्नम्-विकरण वाली विद्—विदँ विचारणे (विचारना, रुधा० आत्मने०)। (११) विन्द्—नुमागम वाली विद् धातु—विद्लृँ लाभे (पाना, तुदा० उभय०), इस धातु में 'शे मुचादीनाम्' (६५४) सूत्र से नुम् का आगम होता है[2]। (१२) शद्—शद्लृँ शातने (नष्ट होना, भ्वा० तुदा० परस्मै०)। (१३) सद्—षद्लृँ विशरण-गत्यवसादनेषु (टूटना, जाना, थकना, भ्वा० तुदा० परस्मै०)। (१४) स्विद्य—श्यन्विकरण वाली स्विद् धातु[3]—ञिष्विदाँ गात्रप्रक्षरणे (पसीना आना, दिवा० परस्मै०)। (१५) स्कन्द्—स्कन्दिर् गतिशोषणयोः (जाना, सुखाना, भ्वा० परस्मै०)। (१६) हदँ पुरीषोत्सर्गे (मल त्याग करना, भ्वा० आत्मने०)।

धकारान्तों में ग्यारह धातु अनुदात्त हैं। (१) क्रुध क्रोधे (क्रोध करना, दिवा० परस्मै०)। (२) क्षुध बुभुक्षायाम् (भूखा होना, दिवा० परस्मै०)। (३) बुध्य—श्यन्विकरण वाली बुध् धातु[4]—बुधँ अवगमने (जानना, दिवा० आत्मने०)। (४) बन्ध बन्धने (बांधना, क्र्या० परस्मै०)। (५) युधँ सम्प्रहारे (युद्ध करना, दिवा० आत्मने०)। (६) रुध्—रुधिँर् आवरणे (रोकना, रुधा० आत्मने०) तथा अनो रुधँ कामे (चाहना, दिवा० आत्मने०)। (७) राध्—राध संसिद्धौ (सिद्ध करना, स्वा०

---

१. कुछ आचार्य भ्वादिगण के परस्मैपद में 'पद स्थैर्ये' धातु स्वीकार करते हैं, उस की निवृत्ति के लिये यहां 'पद्य' में श्यन् का निर्देश किया गया है।

२. विद् धातु अदादि, दिवादि, रुधादि, तुदादि तथा चुरादि पांच गणों में पढ़ी गई है (देखो पीछे पृष्ठ ९८)। इन में से केवल तीन अर्थात् दिवादि, रुधादि और तुदादि गणपठितों का ही ऊपर अनुदात्तों में 'विद्य, विनद्, विन्द्' से निर्देश किया गया है। अवशिष्ट दो में से चुरादिगणीय विद् में तो णिच के कारण इणिनषेध का कहीं प्रसङ्ग ही नहीं आता। अतः केवल अदादिगणीय 'विद ज्ञाने' धातु ही अनुदात्तबाह्य अर्थात् उदात्त या सेट् समझनी चाहिये। ध्यान रहे कि काशिका आदि में विन्द् (तुदादिगणीय विद्) धातु को भी सेट् माना गया है, परन्तु भाष्यकार ने इसे अनिट् माना है।

३. भ्वादिगण में श्यन् नहीं होता अतः भौवादिक 'ञिष्विदाँ स्नेहनमोचनयोः' तथा 'ञिष्विदाँ अव्यक्ते शब्दे' दोनों उदात्त (सेट्) हैं।

४. इस से भौवादिक 'बुध बोधने' तथा 'बुधिर् बोधने' का यहां ग्रहण न होने से वे दोनों उदात्त (सेट्) हैं।

परस्मै०) तथा राध वृद्धौ (बढ़ना, दिवा० परस्मै०)। (८) व्यध ताडने (बींधना-मारना, दिवा० परस्मै०)। (९) शुध शौचे (पवित्र होना, दिवा० परस्मै०)। (१०) साध संसिद्धौ (सिद्ध करना, स्वा० परस्मै०)। (११) सिध्य—श्यन्विकरण वाली सिध् धातु[1]—षिधुँ संराद्धौ (सिद्ध होना, दिवा० परस्मै०)।

नकारान्तों में दो धातु अनुदात्त हैं। (१) मन्य—श्यन्विकरण वाली मन् धातु[2]—मनँ ज्ञाने (जानना-मानना, दिवा० आत्मने०)। (२) हन हिंसागत्योः (हिंसा करना, गमन करना, अदा० परस्मै०)।

पकारान्तों में तेरह धातु अनुदात्त हैं (१) आप्—आप्लृँ व्याप्तौ (प्राप्त करना, स्वा० परस्मै०) तथा आप्लृँ लम्भने (हिंसा करना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (२) क्षिप प्रेरणे (फेंकना, दिवा० परस्मै०; तुदा० उभय०)। (३) छुप स्पर्शे (छूना, तुदा० परस्मै०)। (४) तप्—तप सन्तापे (तपना, भ्वा० परस्मै०), तपँ ऐश्वर्ये (ऐश्वर्यवान् होना, दिवा० आत्म०) तथा तप दाहे (जलाना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (५) तिप्—तिपृँ क्षरणे (टपकना-चूना, भ्वा० आत्मने०)। (६) तृप्य—श्यन्-विकरण वाली तृप् धातु—तृप प्रीणने (तृप्त होना वा करना, दिवा० परस्मै०)। (७) दृप्य—श्यन् विकरण वाली दृप् धातु—दृप हर्षमोहनयोः (खुश होना, घमण्ड करना, दिवा० परस्मै०)[3]। (८) लिपँ उपदेहे (लीपना, तुदा० उभय०)। (९) लुप्—यहां पिछले तौदादिक धातु के साहचर्य के कारण तौदादिक का ही ग्रहण अभीष्ट है[4]—लुप्लृँ छेदने (काटना, तुदा० उभय०)। (१०) वप्—डुवपँ बीज-सन्ताने (बीज बखेरना, भ्वा० उभय०)। (११) शप्—शपँ आक्रोशे (शाप देना, भ्वा० दिवा० उभय०)। (१२) स्वप्—ञिष्वप् शये (सोना, अदा० परस्मै०)। (१३) सृप्—सृप्लृँ गतौ (जाना, भ्वा० परस्मै०)।

भकारान्तों में तीन धातु अनुदात्त हैं। (१) यभ मैथुने (मैथुन करना, भ्वा० परस्मै०)। (२) रभँ राभस्ये (आरम्भ करना, भ्वा० आत्मने०)। (३) लभ्—डुलभँष् प्राप्तौ (पाना, भ्वा० आत्मने०)।

---

१ अत एव भौवादिक 'षिध गत्याम्' तथा 'षिधूँ शास्त्रे माङ्गल्ये च' का यहां ग्रहण नहीं, वे दोनों उदात्त (सेट्) हैं।

२. अत एव 'मनुँ अवबोधने' (तना० आत्मने०) धातु उदात्त (सेट्) है।

३. श्यन् विकरणीय (दिवादिगणीय) तृप् और दृप् धातु से परे वलादि आर्धधातुक को 'रधादिभ्यश्च' (६३५) सूत्र द्वारा विकल्प से इट् का आगम होता है अतः उन का यहां अनुदात्तों में पाठ, इण्निषेध के लिये नहीं अपितु 'अनुदात्तस्य चर्दुप०' (६५३) सूत्र द्वारा वैकल्पिक अमागम के लिये किया गया है। इडभावपक्ष में—त्रप्ता, तर्प्ता; द्रप्ता, दर्प्ता।

४. अतः 'लुप विमोहने' (दिवा० परस्मै०) धातु उदात्त (सेट्) है।

मकारान्तों में चार धातु अनुदात्त हैं। गम—गम्लृँ गतौ (जाना, भ्वा० परस्मै०)। (२) नम्— णम प्रह्वत्वे शब्दे च (झुकना, शब्द करना, भ्वा० परस्मै०)। (३) यम् —यमुँ उपरमे (शान्त होना, भ्वा० परस्मै०)। (४) रम्—रमुँ क्रीडायाम् (खेलना, भ्वा० आत्मने०)।

शकारान्तों में दस धातु अनुदात्त हैं। (१) क्रुश आह्वाने रोदने च (बुलाना, रोना, भ्वा० परस्मै०)। (२) दंश दशने (डंक मारना, भ्वा० परस्मै०)। (३) दिश अतिसर्जने (देना, तुदा० परस्मै०)। (४) दृश्—दृशिर् प्रेक्षणे (देखना, भ्वा० परस्मै०)। (५) मृश आमर्शने (छूना, तुदा० परस्मै०)। (६—७) रुश रिश हिंसायाम् (हिंसा करना, तुदा० परस्मै०)। (८) लिशँ अल्पीभावे (कम होना, दिवा० आत्मने०) तथा लिश गतौ (जाना, तुदा० परस्मै०)। (९) विश प्रवेशने (प्रवेश करना, तुदा० परस्मै०)। (१०) स्पृश संस्पर्शे (छूना, तुदा० परस्मै०)।

षकारान्तों में ग्यारह धातु अनुदात्त हैं। (१) कृष विलेखने (हल जोतना, भ्वा० परस्मै०, तुदा० उभय०)। (२) त्विषँ दीप्तौ (चमकना, भ्वा० उभय०)। (३) तुष प्रीतौ (प्रसन्न होना, दिवा० परस्मै०)। (४) द्विषँ अप्रीतौ (द्वेष करना, अदा० उभय०)। (५) दुष वैकृत्ये (दूषित होना, दिवा० परस्मै०)। (६) पुष्य —श्यन् विकरण वाली पुष धातु—पुष पुष्टौ (पुष्ट करना, दिवा० परस्मै०)। (७) पिष्—पिष्लृँ सञ्चूर्णने (पीसना, रुधा० परस्मै०)। (८) विष्=विष्लृँ व्याप्तौ (व्याप्त करना, जुहो० उभय०), विषुँ सेचने (सींचना, भ्वा० परस्मै०) तथा विष विप्रयोगे (छोड़ना, क्र्या० परस्मै०)। (९) शिष्—शिष हिंसायाम् (हिंसा करना, भ्वा० परस्मै०), शिष्लृँ विशेषणे (विशिष्ट करना, रुधा० परस्मै०) तथा शिष असर्वोपयोगे (बच रहना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (१०) शुष शोषणे (सूखना, दिवा० परस्मै०)। (११) श्लिष्य—श्यन् विकरण वाली श्लिष् धातु—श्लिष आलिङ्गने (आलिङ्गन करना दिवा० परस्मै०)।

सकारान्तों में दो धातु अनुदात्त हैं। घस्—घस्लृँ अदने (खाना, भ्वा० परस्मै०)[1]। वसति[2]— भौवादिक वस् धातु— वस निवासे (रहना, भ्वा० परस्मै०)।

हकारान्तों में आठ धातु अनुदात्त हैं। (१) दह भस्मीकरणे (भस्म करना,

---

१. अद् धातु के स्थान पर होने वाला 'घस्लृ' आदेश स्थानिवद्भाव से ही अनुदात्त है।

२. महाभाष्य में 'वसिः प्रसारणी' कहा गया है अर्थात् जिस के स्थान पर सम्प्रसारण होता है उस वस् का यहां ग्रहण अभीष्ट है। सम्प्रसारण भौवादिक वस् के स्थान पर ही होता है आदादिक 'वसँ आच्छादने' के स्थान पर नहीं अतः आदादिक वस् धातु अनुदात्त नहीं है।

जलाना, भ्वा० परस्मै०)। (२) दिहँ उपचये (बढ़ाना, अदा० उभय०)। (३) दुहँ प्रपूरणे (दोहना, अदा० उभय०)। (४) नह्—णहँ बन्धने (बान्धना, दिवा० उभय०)। (५) मिह सेचने (सींचना, भ्वा० परस्मै०)। (६) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च (उगना, भ्वा० परस्मै०)। (७) लिहँ आस्वादने (चाटना, अदा० उभय०)। (८) वहँ प्रापणे (ले जाना, भ्वा० उभय०)।

इस प्रकार हलन्त धातुओं में अनुदात्तों की संख्या (१०३) होती है (१+६+१+१५+१६+११+२+१३+३+४+१०+११+२+८=१०३)।

'गोपायाम्+कृ+थ' यहां 'कृ' धातु 'ऊद्दन्तैः०' के अनुसार उदात्तों में परिगणित नहीं अतः पारिशेष्यात् अनुदात्त है। इसलिये 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) सूत्र से इट् का निषेध हो जायेगा। अब सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से ऋकार को गुण, रपर और बाद में द्वित्व[1] आदि करने पर 'गोपायाञ्चकर्थ, गोपायांचकर्थ' ये दो रूप सिद्ध होंगे।

मध्यम० के द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत् क्रमशः 'गोपायाञ्चक्रथुः-गोपायांचक्रथुः; गोपायाञ्चक्र-गोपायांचक्र' रूप बनेंगे।

उत्तम० के एकवचन णल् में—गोपायाम्+कृ+अ। यहां 'णलुत्तमो वा' (४५६) से णल् विकल्प से णित् है। णित्वपक्ष में 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि तथा णित्वाभावपक्ष में 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण प्राप्त होता है। परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के कारण इन दोनों से पहले द्वित्व हो जाता है। तदनन्तर वृद्धि और गुण करने पर 'गोपायाञ्चकार-गोपायांचकार, गोपायाञ्चकर-गोपायांचकर' ये चार रूप सिद्ध होते हैं। द्विवचन और बहुवचन में 'असंयोगाल्लिट् कित्' (४५२) के अनुसार 'व' और 'म' कित् हैं अतः गुण का निषेध हो जाता है—गोपायाञ्चकृव-गोपायांचकृव, गोपायाञ्चकृम-गोपायांचकृम।

यहां तक 'कृ' के अनुप्रयोग की चर्चा हुई। 'भू' का अनुप्रयोग होने पर पूर्ववत 'बभूव' आदि रूप बनते हैं—गोपायाम्बभूव, गोपायाम्बभूवतुः, गोपायाम्बभूवुः आदि।

'अस्' का अनुप्रयोग होने पर 'अत्' धातु के लिँट् के समान प्रक्रिया होती है—गोपायामास, गोपायामासतुः, गोपायामासुः आदि। ध्यान रहे कि यहां अनुप्रयुज्यमान अस् के स्थान पर 'अस्तेर्भूः (५७६) से भू आदेश नहीं होता क्योंकि वैसा करने पर अस् का अनुप्रयोग निष्फल हो जाता, भू का अनुप्रयोग तो किया ही था।

अब 'आयादयः०' (४६६) से जिस पक्ष में आयप्रत्यय नहीं होता वहां 'गुप्+अ' (णल्) इस अवस्था में गुण से पूर्व द्वित्वादि हो कर—जुगुप्+अ। अब लघूपधगुण

---

१. ध्यान रहे कि यहां अच् परे नहीं है अतः 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) निषेध नहीं करेगा, तब परत्व के कारण प्रथम गुण हो कर बाद में द्वित्व होगा।

करने से—जुगोप । द्विवचन और बहुवचन में 'असंयोगाल्लिट् कित्' (४५२) से कित्त्व के कारण गुण नहीं होता—जुगुपतुः, जुगुपुः ।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् हो कर 'गुप्+थ' इस स्थिति में गुप् धातु के अनुदात्तबाह्य होने से इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७६) स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा ।७।२।४४।।

स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा । जुगोपिथ-जुगोप्थ । गोपायिता-गोपिता-गोप्ता । गोपायिष्यति-गोपिष्यति-गोप्स्यति । गोपायतु । अगोपायत् । गोपायेत् । गोपाय्यात्-गुप्यात् । अगोपायीत् ।।

अर्थः—स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् और ऊदित् धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो ।

व्याख्या—स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-ऊदितः ।५।१। वा इत्यव्ययपदम् । 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' का अनुवर्त्तन होता है । ऊत् (दीर्घ ऊकारः) इत् यस्य स ऊदित् बहुव्रीहिः । स्वरतिश्च सूतिश्च सूयतिश्च धूञ् च ऊदित् च स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदित्, तस्मात् । समाहारद्वन्द्वः । अर्थः—(स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितः) स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् इन धातुओं से तथा दीर्घ ऊकार जिस का इत् हो उस धातु से परे (वलादेः) वलादि (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से हो जाता है । 'स्वरति' से 'स्वृ शब्दोपतापयोः' (शब्द करना, दुःख देना, भ्वा० परस्मै०), 'सूति' से अदादिगणीय 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' (पैदा करना, अदा० आत्मने०), 'सूयति' से दिवादिगणीय 'षूङ् प्राणिप्रसवे' (पैदा करना, दिवा० आत्मने०), 'धूञ्' से 'धूञ् कम्पने' (कम्पाना-हिलाना, स्वा० क्र्या० उभय०) तथा ऊदित् से गुपूँ गाहूँ प्रभृति धातुओं का ग्रहण होता है । इन के उदाहरण यथा—

स्वरति—स्वरिता, स्वर्ता । सूति—सविता, सोता । सूयति—सविता, सोता । धूञ्—धविता, धोता । ऊदित्—गोपिता, गोप्ता इत्यादि ।

गुपूँ धातु ऊदित् है अतः इस से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम विकल्प से होगा । 'गुप्+थ' यहां इट् का आगम हो कर द्वित्व तथा लघूपधगुण करने से—जुगोपिथ । इट् के अभाव में—जुगोप्थ । इसी प्रकार वस् और मस् में भी दो दो रूप बनेंगे—जुगुपिव-जुगुप्व; जुगुपिम-जुगुप्म[1] । लिँट् में समग्र रूपमाला यथा—

---

१. कई आचार्य यहां क्रादिनियम से नित्य इट् का विधान मानते हैं अतः उन के मत में 'जुगोप्थ, जुगुप्व, जुगुप्म' रूप नहीं बनते । एतद्विषयक विस्तृत विचार क्रादिनियम (४७९) पर देखें ।